धर्म की अवधारणा

रंगा हरि



धर्म की अवधारणा

श्री रंगा हरि (कोच्ची, केरल)

पूर्व अखिल भारतीय बौद्धिक प्रमुख

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

श्री भारती प्रकाशन

डॉ. हेडगेवार भवन परिसर,

महाल, नागपुर–४४००३२

दूरध्वनि – (०७१२) २७२३८०३, २७२०६०१

धर्म की अवधारणा

लेखक : श्री रंगा हरि

प्रकाशक
श्री भारती प्रकाशन
डॉ. हेडगेवार भवन परिसर
महाल, नागपूर ४४००३२
दूरभाष : ०७१२-२७२०६०१, २९९५०३५
मो.क्र. : ९३२५१५४०३९
E mail :- shribharatiprakashan@gmail.com

पुनर्मुद्रण : मार्च २०२३

मुद्रक
सूरज प्रिन्टर्स
नागपूर

मूल्य ₹ ३०/-

ISBN NO. - 978-93-92813-40-5

आमुख

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा 'कार्यकर्ता निर्माण' के लिए प्रतिवर्ष संघ शिक्षा वर्ग का आयोजन किया जाता है । नागपुर में संघ शिक्षा वर्ग, तृतीय वर्ष (विशेष) वर्ग में सन् २०११ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्व अखिल भारतीय बौद्धिक प्रमुख मा.श्री रंगाहरि जी का 'धर्म की अवधारणा' इस विषय पर बौद्धिक वर्ग संपन्न हुआ था । स्वयंसेवक तथा प्रबुद्ध नागरिकों के मन में 'धर्म की संकल्पना' इस विषय में बहुत जिज्ञासा होती है । समाज में 'धर्म' के संबंध में अनेक प्रकार की भ्रांतियां भी बन गई हैं । मा. रंगाहरि जी ने इस विषय का गहन अध्ययन कर, अपने गम्भीर चिंतन एवं अनुभव के आधार पर धर्म के इस महान अवधारणा को प्रस्तुत किया है ।

– प्रकाशक

धर्म की अवधारणा

धर्म जिज्ञासा

धर्म को जानने की इच्छा आज सर्वत्र दिखाई देती है । सन्त समाज तो धर्म शब्द को बार-बार दोहराते हैं । किन्तु आजकल राजनीतिक सत्ता की लालसा रखने वाले सभी नेता एवं दल भी युग्मधर्म (Coalition धर्म) के बारे में जोर देकर बोलते रहते हैं । भ्रष्टाचार के विरुद्ध आन्दोलन करने वाले सामाजिक नेतागण भी धर्म-अधर्म की भाषा बोलते हैं । सार्वजनिक न्याय के लिए लड़ने वाले लोकहित याचिकावाले भी धर्मनिष्ठ होने का दावा करते हैं । अर्थात् आज के लोकजीवन में, भले ही वे राजनीतिक हों या आर्थिक, सामाजिक हों या मजहबी, सभी के लिए 'धर्म' शब्द सामान्य हो गया है, यहाँ तक कि पश्चिमी भाषाओं के शब्द कोशों में भी इस शब्द ने स्थान ग्रहण कर लिया है ।

यह बहु-कथित धर्म क्या है ? उसका क्या तात्पर्य है ? न्याय-नीति से उसका क्या संबंध है ? अन्ततोगत्वा धर्म क्या पुण्य-पाप जैसा मजहबी शब्द है ? सामान्य लोकजीवन में तथा आज के लोकतान्त्रिक अन्तरराष्ट्रीय जीवन में उसकी प्रासंगिकता क्या है ? वह सदा घोषित सेक्युलरिज्म का विरोधी शब्द तो नहीं है ? इस प्रकार के तरह-तरह के प्रश्न विशेषकर प्रामाणिक प्रबुद्ध युवा-प्रौढ़ लोगों के मन में उठते हैं । अतः यह लेख इन प्रश्नों के समाधान के लिए किया गया एक सामान्य प्रयास है जहाँ विद्वत्ता का लवलेश नहीं । अर्थात् यह एक खोज है । धर्म की अवधारणा की खोज, एक प्रामाणिक अनुसंधान ! यहाँ दावा नहीं है कि यह धर्म की अधिकृत व्याख्या है ।

धर्म का महत्व

भारत के किसी भी प्रान्त के पण्डित-अपण्डित, दार्शनिक-प्रवचनकार, पुजारी-पुरोहित, आचार्य-अध्यापक, लेखक-निदेशक आदि के ओंठों से निकलने वाला उद्धरण है 'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित:' जिसका अर्थ है 'बचाया हुआ धर्म बचाता है, मारा हुआ धर्म मारता है' । शायद कहने वाले लोग इसका अर्थ नहीं जानते होंगे तो भी वे कहावत जैसे उस पंक्ति को दोहराते हैं ।

इसी प्रकार की और एक आधी पंक्ति है 'यतो धर्मस्ततो जय:।' अर्थात् जहाँ धर्म है वहीं जीत है । यह सुभाषित हमारे सर्वोच्च न्यायालय में न्यायमूर्ति के सर्वमान्य प्रतिष्ठित स्थान के पीछे देवनागरी वर्णों में अंकित है । यह उस सर्वोच्च संस्था का बोधवाक्य है । उसी प्रकार भारत में अनेक संस्थाएँ एवं समाचार पत्र हैं जिनका बोधवाक्य यही है । यह अष्टाक्षरी छोटी-सी पंक्ति समस्त भारतवर्ष में भाषाभेदों के बावजूद सुप्रचलित कहावत बन गयी है । यह है महाभारत इतिहास का योगदान। उस अमूल्य महाग्रन्थ में १२-१५ बार यह पंक्ति किसी भजन के ध्रुपद जैसी अनेक बार आती है ।[१] उदाहरणार्थ: उद्योग पर्व में कर्ण श्रीकृष्ण से, द्रोणाचार्य दुर्योधन से, भीष्मपर्व में भगवान व्यास धर्मपुत्र से, अनुशासन पर्व में भीष्म श्रीकृष्ण से, यह शाश्वत सत्य की पंक्ति कहते दिखाई पड़ते हैं । उपर्युक्त प्रसंगों पर सम्बन्धित वक्ता परिस्थिति का विश्लेषण और मूल्यांकन करते हुए निष्कर्ष के रूप में बताता है- 'जहाँ धर्म है वहाँ जय है ।'

इसी प्रकार सुघोषित वाक्य है 'सत्यं वद धर्मं चर' - सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो । उसका स्रोत कौन जाने परंतु उसको सब जानते हैं । विद्यापूर्ति के पश्चात् गुरुकुल से अपने घर लौटने वाले स्नातक युवा को गुरुवर द्वारा प्रदत्त मूल्यवान आदेश है वह और संपूर्ण भारत उसको भलीभांति जानता है । इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण और भी हैं । कहने का तात्पर्य इतना ही है कि भारत में धर्म का महत्व सब लोग मानते हैं ।

इस महत्व को मात्र सैद्धान्तिक स्तर पर नहीं, वरन् जीवन के ठोस आधार पर भी प्रस्तुत करने हेतु अपने महान पूर्वजों ने हमारे सम्मुख धर्म के मूर्तिमन्त पुरुषरत्नों को खड़ा किया । उदाहरणार्थ- महर्षि वाल्मीकि के प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि नारद स्पष्ट करते हैं कि दशरथनन्दन राम धर्मज्ञ हैं, वे धर्म के परिरक्षक हैं, स्वयं के तथा स्वजनों के धर्म के संरक्षक हैं ।[२] अर्थात् यह अपेक्षित था कि यहाँ का आदर्श मानव धर्म का जानकार हो, व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन में वह धर्म का सर्वतोमुखी संरक्षक हो ।

इतने महत्वपूर्ण धर्म को जानने की इच्छा मन में उत्पन्न होती है तो उसमें आश्चर्य ?

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति

धर्म शब्द का मूल धातु 'धृ' है जिसका अर्थ है 'धरना' धारण करना, ग्रहण करना, स्थापित करना, पकड़ना, पकड़ कर संभालना । 'शब्दकल्पद्रुम' शब्दकोश धर्म की पदव्याख्या देता है - 'धरति लोकान्' जो सभी भुवनों को धर कर संभालने वाला है वह धर्म है । वामन श्रीराम आप्टे का शब्दकोश भी दूसरे शब्दों में इसी को दोहराता है । उसके अनुसार धर्म है जो 'ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा ।'

यहाँ हमें 'धृ' - धरना धातु का अर्थ ठीक प्रकार समझना होगा। धर्म के सम्बन्ध में उस धातु का अर्थ मात्र लौकिक दैहिक क्रिया तक सीमित नहीं है वरन् उससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ इस शब्द में समाहित है ।

एक उदाहरण से स्पष्ट करूँगा । दो शब्द हैं, मुरलीधर एवं गंगाधर । मुरली को धरनेवाला मुरलीधर है । इस दृष्टि से देखा जाये तो सिर पर सौ-सौ मुरलियों का टोकरा रखकर हाथ में एक मुरली पकड़कर गली-गली के घर-घर जाकर मुरली बेचने वाले व्यवसायी को मुरलीधर कहना पड़ेगा । किन्तु हम उसे मुरलीधर नहीं कहते । ऐसा क्यों ? हम जानते हैं कि वह केवल जीवनयापन के लिए मुरली लेकर घूमता है ।

जीवन वृत्ति से परे उसका मुरली से कोई सम्बन्ध नहीं । अब साक्षात् मुरलीधर की ओर चलें । उसके लिए मुरली अपने मधुर कण्ठस्वर को मधुरोत्तम बनाने का स्वयंस्वीकृत प्रयास है, मानो वह मुरली अतिरिक्त कार्मेन्द्रिय है । मुरली से मुरलीधर को सफलतापूर्वक काम निभाना है । गायों के झुंड को बिना रस्सी नियंत्रण में रखना है । सहायक समस्त गोप-गोपियों को सरसतापूर्वक साथ लेकर चलना है । वृन्दावन के गुरूजनों के आगमन एवं प्रस्थान के पहले पूर्व सूचना मनोहारी ढंग से देनी है । इसके लिए कन्हैया ने जो साधन अपनाया, जिस मुरली को धारण किया उससे उसका व्यक्तित्व समासित हुआ और वे मुरलीधर बन गये । मुरली को धरने वाले लोग अनेक होंगे परन्तु साक्षात् मुरलीधर एक ही है । यही 'धृ-धरति' का शब्दार्थ के परे का अन्तरार्थ है ।

गंगाधर गंगा को धारण करनेवाला है । वैसे देखा जाये तो विशेषकर श्रावण मास में पूरे देश में कांवड़ से गंगाकलश गाँव-गाँव ले जाने वाले करोड़ों गंगाधर होंगे । परन्तु हम सब के मन के सम्मुख गंगाधर एक मात्र है, गंगाजी को अपनी जटाओं में धारण करने वाला महादेव । उस धारण में एक लक्ष्य है, एक तप है । स्वर्गगंगा के प्रचण्ड प्रपात को सहन करने वाला अत्यन्त प्रबल अधिष्ठान पृथ्वी पर अनिवार्य था जिसको महादेव ने प्रदान किया - अपना जटाधारी शीर्ष । वहाँ से गंगाजी का जीवनलक्ष्य, पाप प्रक्षालन और पुण्य प्रदान करना प्रारंभ हुआ । उसके कारण ही महादेव गंगाधर बन गये ।

धर्म की व्युत्पत्ति में जो कहा गया 'धरति लोकान्' अथवा 'धरति लोकं वा', यह इस प्रकार का धारण है । केवल दैहिक हाथ की पकड़ नहीं । विश्व सृजन के पश्चात् का स्थिति-परिपालन है । उसमें सृष्टि की दृढता, भद्रता, रक्षण, पालन, पोषण आदि अभिप्रेत है । इसलिए कहा गया है 'धारणात् धर्मः।'

वैदिक संहिताओं में धर्म शब्द से ऋतं शब्द अधिक प्रचुर है । ऋग्वेद में धर्म का शब्द ५६ बार आया है । पश्चात् के कालखंडों में अर्थात् इतिहास-पुराणों के कालखंड से प्रारंभ होकर आगे 'धर्म' शब्द को प्रमुखता और प्रचुरता मिली और 'ऋतं' श्रुति के मंत्रों की ऋचाओं में

मर्यादित रहा । किन्तु विशेष ध्यान देने लायक सत्य यह है कि इसके कारण कोई अर्थलोप अथवा भावलोप नहीं हुआ, बल्कि धर्म और ऋतं समानार्थी शब्द माने गये । दोनों निर्विशेष सत्य के साथ जुड़ गये ।

धारण करने की आवश्यकता क्यों ?

'धारणात् धर्मः' कहा गया है । किन्तु इसकी आवश्यकता क्यों महसूस हुई ? उत्तर ढूंढने के लिए हमें सृष्टि की प्रक्रिया की ओर बढ़ना पड़ेगा । इस उदाहरण के भरोसे वह अधिक आसान होगा । कल्पना करें - एक पुरुष है और वह अकेला है । वह कहीं पर भी काम-धंधे के लिए जा सकता है, कहीं भी ठहर सकता है, कभी भी अपना ठिकाना बदल सकता है, वह स्वयं का स्वामी है, उसे धारण करने की आवश्यकता या अनिवार्यता अन्य किसी की नहीं है । किन्तु कालचक्र की गति के परिणामस्वरूप वह आगे चलकर एक सफल गृहस्थ बन जाता है, निसर्ग के क्रम के अनुसार ७-८ संतानों का पिता बन जाता है, पत्नी समेत १०-१२ लोगों का परिवार बन जाता है । परिवार के सारे अंग अपनी-अपनी रुचि या रुझान के अनुसार अपना-अपना जीवन बिताते हैं । अब उस मूलपुरुष ने सबकी ओर ध्यान न देते हुए सब को स्वच्छन्द छोड़ दिया तो आपसी संघर्ष भी संभव है, समन्वय भी संभव है । वांछनीय तो समन्वय है, उसी के कारण परिवार का विकास होगा, सबका जीवन सुखी होगा । उसके लिए परिवार के मुखिया द्वारा सभी बन्धुओं को समूहिकता के सूत्र में पिरोना पड़ता है, सबको बिना संघर्ष एवं मत्सर के एक साथ संभालना पड़ता है । यहाँ उनकी आवश्यकता बिल्कुल नहीं थी जब वह अकेला था । जब वह एक अनेक रूपों में प्रकट हुआ, तभी अनेक को एकसाथ पकड़कर रखना अनिवार्य हो गया ।

धर्म का आविर्भाव

अब हम सृष्टि की प्रक्रिया की ओर चलें । कहा जाता है कि सृष्टि के अभिव्यंजन के पूर्व एकमात्र अद्वितीय आदिशक्ति थी । उसके अंदर ईप्सा का स्पन्दन हुआ कि मुझे एक से अनेक बनना है । 'वत्स, प्रारंभ में केवल सत् था, दूसरे के बिना एकमात्र । उसे इच्छा हुई, मैं

अनेक बन जाऊं, मेरा जनन हो ।'(छान्दोग्योपनिषद्)[३] वैसा ही हुआ । अमर्यादित भिन्नरूपी बहुआयामी सत् की अभिव्यक्ति हुई । किन्तु एक से उत्पन्न अनेक में मूलभूत एकात्मता की चेतना अवश्य थी, जैसे चुम्बक के टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी प्रत्येक टुकड़े में चुम्बकत्व रहता है । उस अनेक का विकास हो, विनाश न हो, इस दृष्टि से सबको समवाय में सामंजस्य से रखने की आवश्यकता उभर पड़ी । उस समय, जैसे धर्म की व्युत्पत्ति में कहा, वैसे सारे सृष्टिपात को धारण करके संभालने के लिए धर्म का जन्म हुआ । ('ध्रियते लोक: अनेन स धर्म:') अर्थात् आदिशक्ति ने अपने आन्तरिक इच्छास्पन्दन के अनुसार बहुधा अभिव्यक्त होते ही उसके.परिपालन व संधारण हेतु धर्म की भी सृष्टि की । धर्म संपूर्ण सृष्टिजाल को बहुता और विविधता यथावत् रखते हुए सुस्थिर करने वाली शाश्वत क्षमता का नाम है । अत: बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है- ''उसने कल्याण स्वरूप धर्म की अतिसृष्टि की । अत: धर्म से उत्कृष्ट कुछ नहीं है... वह जो धर्म है, निश्चय सत्य ही है।''[४]

धर्म – जगत का अधिष्ठान

सूर्यमण्डल का उदाहरण लें । पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है । अन्य ग्रह भी इसी प्रकार सूर्य की परिक्रमा करते हैं । उसकी एक सुनिश्चित समयसारिणी रहती है, जैसे शनिश्वर की परिक्रमा ३० साल में पूरी होती है और गुरुग्रह की १२ साल में । उसी प्रकार इन ग्रहों के बीच पारस्परिक आकर्षण शक्ति भी होती है । इसके साथ पृथ्वी जैसा ग्रह अपनी धुरी पर भी भ्रमण करता है । यह सारा सूर्यमण्डल सृष्टि के प्रारंभ से आज तक पूर्णत: तालबद्ध, कालबद्ध, सूत्रबद्ध चलता रहता है । इस वैश्विक सामंजस्य की शाश्वत क्षमता का नाम है प्रकृतिधर्म । धर्म के बिना यह संभव नहीं । हमारे अत्यन्त छोटे व्यावहारिक लौकिक जगत में जब इस प्रकार के धर्म प्रवर्तन में च्युति या त्रुटि होती है तब विनाशकारी रेल दुर्घटना जैसी घटनायें घटती हैं । यदि प्रकृति के स्तर पर इस प्रकार की अत्यन्त छोटी फिसलन होती है तो कल्पनातीत सत्यानाश अवश्यंभावी है । धर्म का

महत्व इससे प्रतीत होता है ।

इससे स्पष्ट है कि धर्म मात्र मानवजाति से सम्बन्धित शब्द नहीं है, वरन् धर्म से संपूर्ण सृष्टिजाल आबाधित है । सभी प्रकार के चर-अचर, सचेतन-अचेतन, अपने-अपने अस्तित्व के लिए धर्म पर आश्रित हैं । उसी में उसका अपनापन है । इसी आधार पर बताया जाता है कि जल का अपना धर्म है, अग्नि का अपना धर्म है, पवन का अपना धर्म है । उसके बिना उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और दुनिया से उसकी पहचान भी खत्म हो जाती है । जैसे कि अग्नि का धर्म है उष्णता । यदि कोई अग्नि के समान आकार वाली चीज दिखता और उसमें उष्णता नहीं, केवल प्रकाश है, तो हम कहेंगे कि वह अग्नि नहीं है । पवन का धर्म है चंचलता । यदि पवन अपना धर्म छोड़कर एक ही स्थान पर बिना हलचल के स्थिर रहता है तो उसको पवन कौन कहेगा ? पृथ्वी का धर्म है सबको आधार देना । इसलिए तो उसे धरा, धरित्री, धरणी और वसुंधरा भी कहते हैं । अगर उसने उस धर्म को छोड़ दिया तो ये सारे शब्द अर्थहीन हो जायेंगे । इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक छोटे पदार्थ का अपना-अपना धर्म रहता है । उसी पर निर्भर है उसका अस्तित्व, उसका स्वभाव और पहचान ।

इस प्रकार सजीव प्राणियों का भी अपना-अपना धर्म है । उसी मापदण्ड से उसको पहचाना जाता है । बच्चों की एक कहानी है - एक गीदड़ के बच्चे का शैशव अवस्था से ही शेर के शिशुओं के झुंड में लालन-पालन हुआ । एक दिन उनके सामने दस-बारह हाथियों का झुंड आ पहुंचा । दैवी आहलाद से शेर-शिशुओं का झुंड उस पर टूट पड़ने के लिए कोलाहल मचा रहा था । किन्तु गीदड़ का बच्चा एड़ी से चोटी तक थरथरा रहा था । अब तक वह सोच रहा था कि वह भी उस झुंड का अभिन्न अंग है, किन्तु न जाने इस समय ऐसा क्यों हो रहा है ? गुफा के बाहर लेटकर पूरे दृश्य को निहारने वाली शेरनी माँ ने मुस्कराकर कहा "बेटा । तू शूर है, शिक्षित है, देखने लायक भी है, किन्तु तेरा जन्म उस कुल में हुआ है जहाँ हाथी को नहीं मारा जाता ।"[५] शेरनी का तात्पर्य है कि शेर का धर्म गीदड़ का नहीं हो सकता । दोनों

का धर्म अलग-अलग है ।

मानवेत्तर सृष्टि से सम्बन्धित इस धर्म को प्रकृति भी कहते हैं । क्योंकि जैसे मानवजाति के पास बुद्धि, चित्त, विवेक आदि है, वैसे मानवेत्तर योनिजों के पास ये सब न होने के कारण उनका धर्म ही उसकी प्रकृति है फिर भी प्रत्येक जड़ वस्तु तथा योनिज जन्तु की पहचान उपर्युक्त नैसर्गिक धर्म द्वारा ही संभव है । मानवेत्तर और मानवीय, दोनों सृष्टि का अधिष्ठान धर्म है । उसके बिना सृष्टि नहीं टिकेगी, वह स्वयं शिथिल व विसर्जित हो जायेगी । अत: अपने पूर्वज द्रष्टाओं का कहना है कि 'धर्म है विश्व में सबका अधिष्ठान, धर्म में ही सब प्रतिष्ठित हैं, अत: धर्म महत्तम माना जाता है ।'[६]

अब हम मानव समूह में धर्म के स्थान के बारे में सोचें । यहाँ एक मूलभूत बात विशेषकर स्मरणीय है । भारतीय दर्शन के अनुसार मानव समस्त सृष्टि का अभिन्न अंग है । सृष्टि से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है । न ही सृष्टि उसके केवल भोग के लिए बनी है । यद्यपि विधाता ने उसको सच्चिदानन्द के साक्षात्कार की आन्तरिक क्षमता प्रदान की है, तब भी भूतल पर जीने का अधिकार उसको उतना ही है जितना एक छोटी चींटी को । इसलिए धर्म सबकी सुस्थिरता एवं संधारण के लिए है । उसकी परिधि में मानव एवं मानवेत्तर समान अधिकार से समाविष्ट है ।

अत: भीष्म पितामह धर्मपुत्र को समझाते हुए कहते हैं :- ''सबको एक सूत्र में पिरोते हुए संभालने वाला धर्म है । इससे ही समस्त प्राणिजात एक सूत्र में गूंथा हुआ रहता है । जो सबको जोड़नेवाला है- वह धर्म है ।''[७]

मानव, मन, बुद्धि, चित्त जैसे अपने अन्त:करणों के कारण शेष प्राणिजात से अधिक विकसित है । उसके कारण वह मात्र प्रकृति के स्तर तक मर्यादित नहीं रहता । अपने आन्तरिक गुणों के अनुसार वह विकसित हो सकता है, संकुचित भी हो सकता है । जिन गुणों से वह विकसित होता है, वे सद्‌गुण कहलाते हैं और जिनसे वह संकुचित होता

है वे दुर्गुण । सकारात्मक दिशा में प्रकृति के परे वह संस्कृति की ओर बढ़ सकता है अथवा नकारात्मक दिशा में मुड़कर विकृति की ओर फिसल सकता है । दोनों प्रकार के गुण उसमें विद्यमान है । भगवान श्रीकृष्ण ने उसका वर्गीकरण कर इसे दैवी तथा आसुरी गुण ऐसे दो नाम दिये हैं । दैवी गुण मानव समूह को स्वस्थ, सुखी, सुरक्षित, सुव्यवस्थित, सुगठित, समन्वित रहने के लिए उपयुक्त एवं आवश्यक होते हैं, अत: वे धार्मिक माने जाते हैं । इसके विपरीत गुण जो अस्वस्थता, शिथिलता, विघटन, तनाव, संघर्ष आदि की ओर ले जाते हैं उन्हें अधार्मिक कहा गया । अत: धर्म की धारणक्षमता को पुष्ट करने वाले वे गुण आगे चलकर स्वयं धर्म के नानार्थवाची शब्द बन गये । आसेतु हिमाचल भारत देश में सामान्य जन की समझ में कर्तव्य, दया, दान, अहिंसा, सदाचार, ईमानदारी, हमदर्द, सहकार, सहायता आदि गुण 'धर्म' है । वास्तव में वे गुण स्वयं धर्म नहीं, वरन् धर्म को अभिव्यक्त अथवा पुष्ट करने वाले भावात्मक गुण हैं । उन गुणों के कारण धर्म संचालित एवं सफल होता है। अत: वे सारे गुण स्वयं धर्म के परिचायक बने और धर्म के नाम से ज्ञात होने लगे ।

धर्म की पारस्परिकता

मानव पशु के समान केवल अपने बारे में ही नहीं सोचता । यह एक समाज का घटक भी है । अत: उसको सामाजिक प्राणी कहा जाता है । समाज, झुंड से भिन्न है । झुंड में व्यक्तित्वहीन प्राकृतिक जिजीविषा की प्रेरणा मात्र है । किन्तु समाज वह है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशेष अस्मिता या स्वत्व को कायम रखते हुए सामूहिक माँगों के निर्वहन के लिए व्यक्तिगत असुविधाओं को गौण मानकर सब की भलाई हेतु सब के साथ जुड़ जाता है ।

यहाँ हमारी मदद के लिए संस्कृत भाषा सामने आती है । उस भाषा में झुंड के लिए शब्द है 'समज' । समज जन्मद्योतक शब्द है । जैसे, जल से जनित 'जलज' है, वैसे सम से जनित अर्थात् समयोनी से जनित समज है जहाँ एक दूसरे की आवृत्ति है, रुचि में और कृति में भेद

विहीन । अतः परिभाषा है 'पशूनां समूहः समजः' । किन्तु संस्कृत ने समाज शब्द को भी हमें दिया है । यह है कर्मद्योतक शब्द । इसका शब्दार्थ है समान दिशा में समान गन्तव्य की ओर जाने वाला समूह । यह केवल मानवसमूह के लिए ही संभव है । अतः आगे चलकर परिभाषा तुलनात्मक ढंग से दी है- 'पशुसमानानां मूर्खाणां समूहः समजः, पशुभिन्नानां सभासदानां समूहः समाजः ।' समज पशुसमान मूर्खों का समूह है, समाज पशुओं से भिन्न प्रबुद्ध लोगों का समूह है ।

धर्म के बारे में मनन करते समय हमें इस भेद को ध्यान में रखना होगा । जब तक वैयक्तिकता तथा सामूहिकता के भाव जोड़वे की तरह संयुक्त रहते हैं, तब तक पारस्परिकता के बिना मानव नहीं रह सकता । यदि यह पारस्परिकता लुप्त हो जाती है तब मानव संघर्ष के पथ पर आगे बढ़ेगा और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की तरह हालत हो जायेगी । जानवर से भी मानव नीचे गिर जाएगा ।

निष्कर्ष है, मानव जीवन सामूहिकता से ही आगे बढ़ सकता है। इसका सुस्पष्ट निदेश है संवनन महर्षि द्वारा दिया हुआ मंत्र 'संगच्छध्वं संवदध्वं ...।'- यह है समान उच्चार, समान विचार और समान आचार का आह्वान । एक दिशा में जाने का मार्गदर्शन । इसके लिए धर्म का ही सहारा लेना होगा, कारण धर्म का जन्म ही 'धरति लोकान्' के लिए है । इसी को पूर्व अनुभवों का प्रमाण देकर भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा "धर्म से ही सारा समाज परस्पर रक्षा करते हुए जीता आया है, राजव्यवस्था के बिना, राजा के बिना, दण्ड के बिना, बाहरी विवशता के बिना ।"[१०] विकसित व्यक्तित्व के भरोसे, 'अहं'कार के बदले 'वयं'कार के भरोसे मानव समाज बाहरी विवशता से नहीं किन्तु अन्तःप्रेरणा से व्यक्तिशः एवं समूहशः आगे बढ़ा ।

धर्म व्यक्तिपरक नहीं

जब हम कहते हैं कि धर्म व्यक्तियों को जोड़कर सुव्यवस्थित रखने के लिए है । इसका अर्थ होता है उसके प्रवर्तन के लिए एक से अधिक व्यक्ति की आवश्यकता है । तात्पर्य धर्म व्यक्तिपरक नहीं,

समूहपरक है । विवेचन करके देखें । व्यक्तिसूचक शब्द है मातृधर्म, पितृधर्म, पतिधर्म, गुरुधर्म, शिष्यधर्म आदि । इनमें पितृ धर्म का एक उदाहरण लें- पुत्र-पुत्री की ओर से पिता का कर्तव्य है 'पितृधर्म'। तब अर्थ यह हुआ कि पितृधर्म क्रियान्वित होने के लिए न्यूनतम एक पुत्र चाहिए । उससे अधिक हो तो अधिक अच्छा । जो नि:सन्तान है उसको क्या पितृधर्म ? पितृधर्म के लिए पुत्र चाहिए । उसी प्रकार पतिधर्म के लिए पत्नी चाहिए, गुरुधर्म के लिए शिष्य चाहिए, शिष्यधर्म के लिए गुरु चाहिए । संन्यासी के लिए पत्नीधर्म नहीं होता । वन्ध्या के लिए मातृधर्म नहीं है । अत: स्पष्ट है कि धर्मचक्र पूर्ण होने के लिए एक से अधिक देहधारी चाहिए । अर्थात् धर्म का संबंध एक से नहीं, अनेक से है। घोर विशाल आरण्य में यदि एक मात्र आदमी रहता है तो उसके लिए किस धर्म का बन्धन रहेगा? नरप्राणी का ही न ? परन्तु आरण्य में तो वनप्राणी रहते हैं, वहाँ मानव समाज विद्यमान नहीं है । इसलिए वह मानवधर्म से अछुता रह जायेगा ।

धर्म की एक और विशेषता है- धर्म स्वचालक है । इसके लिए बाहरी प्रेरणा आवश्यक नहीं । विकसित हृदय और प्रबुद्ध मन के द्वारा धर्म स्वयं चलनशील होता है । उसमें से जो आनन्द प्राप्त होता है वही उसकी ऊर्जा है । किन्तु कानून का स्वभाव इससे भिन्न है । कानून में स्वयं संचालन क्षमता नहीं । उसका उद्‌भव बाहर के सत्ताकेंद्र से होता है जिसके बिना उसमें कोई दम नहीं । उसका पालन करने वालों में हृदय की विशालता और बुद्धि की प्रबुद्धता हो ऐसी कोई मजबूरी नहीं । दंड मिलने का डर ही उनमें अधिक प्रभावी है । चौराहे पर अगर पुलिस नहीं है, भीड़ नहीं है और सिग्नल नहीं मिला तो धर्म से प्रेरित स्कूटर चालक गतिव्यवस्था को मान कर वहाँ रुकेगा । इसके विपरीत मात्र कानून से विवश आदमी, 'पुलिस नहीं है तो डर किस बात का' ऐसा सोचकर व्यवस्था तोड़ आगे बढ़ेगा और शायद किसी दुर्घटना में जा फंसेगा । कानून से विवश व्यक्ति केवल अपने बारे में सोचता है जबकि धर्माश्रित मनुष्य अन्यों के विषय में भी सोचता है । कानून व्यक्ति-केन्द्रित है, धर्म समूह-केन्द्रित है । धर्म परिस्थिति-सापेक्ष है । धर्म

गलत काम करने से रोकता है, कानून गलत काम करने पर सजा देता है। सही रास्ते पर आगे बढ़ने की हरी बत्ती है- 'धर्म', गलत रास्ते पर न जाने देने की लालबत्ती है 'कानून'। धर्म का पूरक है कानून । इसका धर्म जैसा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है । प्रशासन हो या न हो 'धर्म' टिकेगा । प्रशासन नहीं हो तो कानून की धज्जियाँ उड़ जाएंगी ।

धर्म बनाम पंथ–संप्रदाय

धर्म कोई दृश्य-स्पृश्य वस्तु नहीं । वह तत्व है । सभी तत्वों के समान वह निराकार है । प्राणवान् मानव के माध्यम द्वारा ही वह साकार हो सकता है । धर्म को सफल और सक्षम बनाने वाले जो गुण हैं उनका धनी मानव है । मानव को उन गुणों से संस्कारित करने की भूमिका मुख्यत: परिवार, शिक्षा संस्था और पंथ-संप्रदाय की है । साहित्य, कला, इतिहास और प्रशासन की भी है ।

बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सब को कथा-कहानियाँ आकृष्ट करती हैं । साहित्य और कथाएं बचपन में ही कोमल मन को शिष्टगुणों से प्रभावित करते हैं । उदाहरण के लिए पंचतंत्र व हितोपदेश प्रतिदिन नजर आते क्षुद्र जन्तुओं को कथापात्र बनाकर वचनबद्धता, मित्रता, एकता, सामंजस्य, सहकार, सहवर्तिता आदि सद्गुणों के बीज उपजाऊ बाल मन में बोते हैं । अत: नैतिकता धर्म का पर्यायवाची शब्द बन गया ।

चोरी, तस्करी, ठगी आदि निकृष्ट कृत्यों को मिटाने हेतु प्रशासन ने योग्य नियम बनाये । अत: धर्म का एक और नाम बन गया 'नियम' या विधि । इसी प्रकार घर-घर के द्वारों पर आकर भिखारी कहता है 'धरम दो मय्या'-'धर्म दो मय्या', तब उसको मुट्ठीभर अनाज देती माँ-चाचियों को बालकों ने देखा । अत: उनको लगा धर्म याने दान है । इस प्रकार भिन्न प्रकार के आयामों के कारण धर्म का अर्थ नैतिकता, दान, कर्तव्य, नियम, करुणा, सेवा इत्यादि बन गया । फलस्वरूप धर्म समूहवाची लोकसंग्रही गुणों का कुंदन का पिटारा बन गया ।

धर्म को इस प्रकार बनाने में सबसे बड़ा योगदान पंथ-संप्रदाय का है । इसी प्रकार तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम भाषाओं के शब्द के अनुसार 'मतम्' का है । संतुलित चित्त से विश्लेषण करके सोचें तो मानव मन पर सबसे बड़ा प्रभाव 'मतम्' का है । विदेश में मृत्यु होने पर भी आदमी अपना संप्रदाय नहीं छोड़ देता, इतनी प्रबल एवं प्रभावी है यह पकड़ ! मानव मन पर अमिट संस्कार अंकित करने का काम पंथ-संप्रदाय करता है । पंथ-संप्रदाय अथवा मतम् की अपील साहित्य, कला, शासन आदि की अपील से बहुत अधिक है । पंथ-संप्रदाय में दो शब्द हैं- पुण्य और पाप । विश्व के समस्त आस्तिक लोग, पंथ निर्विशेष इस मत से सहमत हैं कि 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।' 'धर्मचक्रप्रर्वतनाय' जितने सारे गुण हैं वे निरपवाद पुण्य देने वाले हैं और इसके विपरीत जो व्यवहार है वह पाप देने वाला है । पुण्य शाश्वत सुख देने वाला है और पाप चिरन्तन दु:ख । सभी संप्रदायों में अटल रहने वाली इस संकल्पना का परिणाम है पुण्य कमाकर चिरन्तन सुख प्राप्त करने की प्रेरणा तथा पाप-कर्म से हटकर चिरन्तन दु:ख से छुटकारा पाने की लालसा । अर्थात् धर्मानुकूल सकारात्मक दिशा में आगे बढ़ना और धर्मविरोधी नकारात्मक दिशा से मुँह मोड़ना, यह पंथ-संप्रदायों के प्रबल प्रभाव के कारण संभव होता है । अर्थात् धर्मनिष्ठ जीवन बिताने की अक्षुण्ण प्रेरणा देनेवाला साधन है पंथ या संप्रदाय । परिणाम स्वरूप पंथ-संप्रदाय ने भी नैतिकता, दान, कर्तव्य आदि गुणों के समान धर्म का अभिधान अर्जित किया । ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ साध्य से समरस होकर साधन साध्य का नाम ग्रहण करता है । मूर्ति को निमित्त बनाकर भक्त अमूर्त भगवान का सान्निध्य अनुभव करता है और अन्ततः मूर्ति को ही भगवान मानता है। धर्म की भी स्थिति यही है ।

यहाँ एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता महसूस होती है कहा जाता है कि पंथ-संप्रदायों को 'धर्म' नाम से उल्लिखित करने की विकृति अंग्रेजों के कारण है । सोचने पर विश्वास बढ़ता है कि हम ही उसके अपराधी हैं । अपने लोगों ने ही त्रुटिपूर्ण अनुवाद किया होगा ।

हमारे अध्यात्म साहित्य में आदि शंकराचार्य को 'षण्मताचार्य' कहा गया है, न षड्धर्माचार्य । स्वामी विद्यारण्य जैसे तत्वज्ञानी महात्मा ने शंकरमत को (संस्कृत में) शंकरधर्म नहीं कहा । यह प्राचीन पुरातनी बात नहीं, १५वीं-१६वीं सदी की बात है । आज भी दक्षिण की चार भाषाओं के शब्द हैं हिन्दुमतम्, क्रिस्तुमतम्, मुस्लिम मतम्, जैनमतम्, बुद्धमतम्, शैवमतम्, वैष्णवमतम् आदि । जिन पंथ-संप्रदायों को आज गलती से धर्म कहते हैं वह मत (मतम्) ही हैं । ईश्वर, मोक्ष, पुण्य, पाप सम्बन्धित ईसा मसीह का मत है-'ईसा मतम्', मुहमद का मत है-मुहमदीय मतम्,-बुद्ध का मत है- बुद्धमतम्, जैन-तीर्थंकर का मत है-जैनमतम्, उपासना मूर्ति के आधार पर विष्णु के उपासकों का मतम् है-वैष्णवमतम्, उसी कड़ी में शैवमतम्, शात्क्त्यमतम् आदि । मतम् के उद्‌गम का स्थान कोई न कोई पुरुष होता है । अतः मतम् पौरुषेय है तथा धर्म अपौरुषेय है ।

वास्तव में धर्म मतम् से व्यापक है, वह अधिष्ठान है । धर्म समावेशक है । उसमें आस्तिक, नास्तिक, सबको स्थान है । क्योंकि मानव समुदाय की सुव्यवस्था हेतु आस्तिक-नास्तिक सब प्रतिबद्ध और उत्तरदायी हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि का ठोस अधिष्ठान मानवीयता है, न आस्तिकता, न नास्तिकता । वैसे देखा जाये तो मनुस्मृति में मनु द्वारा परिभाषित धर्म के सारे दस लक्षण मानवीयता से सम्बन्धित हैं । वे लक्षण हैं- धृति (धैर्य), क्षमा, दम, अस्तेय, शुचिता, इन्द्रियनिग्रह, धी (ज्ञान), विद्या, सत्य, अक्रोध । सावधानी ने विवेचन करें तो उपासना मार्ग पर उनमें किसी का आग्रह नहीं ।" आस्तिक हो या नास्तिक सभी सदाचारी स्त्री-पुरुष में वे गुण अपेक्षित हैं ।

हमारे धर्म साहित्य में इसी तरह के असंख्य उल्लेख हैं। उपलब्ध सामग्री की प्रचुरता के कारण चयन करना बहुत कठिन है। फिर भी मात्र एक उल्लेख करूंगा - भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं - "जो सर्व भूतों का बन्धु है और सर्व भूतों से एकात्म है, वही धर्मयुक्त कहलाता है ।"[१२] आस्तिक-नास्तिक को छोड़कर यह विश्वमानव का लक्षण है, वैश्विक नागरिक के गुण हैं । जब राजा

रन्तिदेव ने कहा कि "ईश्वरीय चरमस्थान मुझे नहीं चाहिए, आठ दैवी सिद्धियां भी नहीं चाहिए, पुनर्जन्मों के चक्र के परे ले जाने वाली दैवी शक्ति भी नहीं चाहिए, वरन् दु:ख भुगतने वालों के अंदर रहते हुए उनके दु:खों का भागीदार बन कर उनके दु:ख को शमन करने वाली क्षमता मुझे चाहिए", तब वे उपर्युक्त विश्वमानव के धार्मिक स्तर पर पहुँच चुके थे।"

पैनी दृष्टि से देखा जाये तो पंथ-संप्रदाय-मतम् व्यतिरेकी है। वैष्णवों की उपासनापद्धति में शैव और शैवों की उपासनापद्धति में वैष्णव अपेक्षित नहीं, दोनों का कर्मकाण्ड अलग है। उसी प्रकार इस्लामी कर्मकाण्डों में ईसाई और ईसाई कर्मकाण्डों में इस्लामी अनपेक्षित हैं, अवांछनीय भी। पंथों में पृथकता है और धर्म में संपृक्तता। पंथ विश्लेषी है धर्म आश्लेषी है। धर्म का वर्तुल सर्वाश्लेषी है, मतम् का वर्तुल स्वयं चयनित है।

धर्म और अध्यात्म

आस्तिक व्यक्ति धर्मी और नास्तिक व्यक्ति अधर्मी हो, ऐसा अनिवार्य नहीं है। क्योंकि रावण जैसा तपस्वी तथा आस्थावान व्यक्ति भी अधर्मी हो सकता है। यह समझना अतिआवश्यक है कि धर्म मूल्यों पर आधारित है न कि व्यक्ति के आस्तिक या नास्तिक होने पर। फिर भी वह अध्यात्म से जुड़ा हुआ है। उसका मुख्य कारण है कि धर्म की संकल्पना निरपवाद भारत की होने के कारण उसका जीवन सम्बन्धित दृष्टिकोण भारतीय दर्शन का ही होना स्वाभाविक है। यह पश्चिमी सेमटिक दर्शन से बिल्कुल भिन्न है जिसके अनुसार जीवन की अवधि मृत्यु तक की है। मृत्यु के बाद उस परेत प्राण को विश्व के अन्तिम दिन पर होने वाली सुनवाई की बेला तक कब्र में बाट जोहना पड़ता है। किन्तु भारतीय दर्शन में जीवन की यात्रा अन्तहीन है। उसके अनुसार मृत्यु जीवन का पूर्णविराम नहीं, दूसरे जन्म के पूर्व का मात्र अर्धविराम है। अर्थात् इह-परलोक की कड़ियों से बनी जंजीर है जीवन। स्वयं के कर्मफलों से मोक्षप्राप्ति तक जीवन चलता रहेगा।

धर्म का जीवन से सम्बन्धित दृष्टिकोण यही है । अत: धर्म जीवन के विषय में मात्र इहलोक का विचार नहीं करता अपितु परलोक का भी करता है । इसे अध्यात्म कहते हैं । इसलिए स्वभावत: धर्म के कार्यक्षेत्र में अध्यात्म भी आता है । श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के भाष्य में श्रीमत् शंकराचार्य कहते हैं कि धर्म जगत की स्थिति का हेतु है, 'जगत: स्थितिकारणं' साथ ही साथ 'प्राणिनां अभ्युदयनि:श्रेयसहेतु' है । अभ्युदय का अर्थ है इस भौतिक जगत में प्रगति, नि:श्रेयस का अर्थ है मोक्ष, आध्यात्मिक सर्वान्तिम लक्ष्य । अर्थात् धर्म इहलोक की और परलोक की परम उन्नति का साधन है । उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति किसी भी उपासना मार्ग को अपने भाव तथा भावनानुसार स्वीकार कर सकता है । धर्म उसमें हस्तक्षेप नहीं करता । परन्तु इतना तो आग्रहपूर्वक कहता है कि "मानव का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है और उसका अधिष्ठान स्वयं मैं- 'धर्म' हूँ ।" धर्म की उपासना से सम्बन्धित दृष्टि भगवान श्रीकृष्ण की है - "जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर करता हूँ ।"[१४]

भारतीय दर्शन के अनुसार मानवीय जीवन एक नदी है, उसका जल और प्रवाह मानव को सदा चेष्टित करने वाले अर्थ और काम हैं । उस नदी के दो तट हैं धर्म और मोक्ष । जीवनरूपी नदी कल्याणकारी होने के लिए उसको दोनों तटों के बीच, दोनों तटों का उल्लंघन न करते हुए बहना पड़ेगा । धर्म और अध्यात्म का यह रिश्ता इस उदाहरण से स्पष्ट होता है ।

धर्म के छोटे बड़े वर्तुल और धर्मसंकट

धर्म प्रत्यक्ष जीवन से सम्बन्धित है और मानव अपने जीवन के चारों ओर विवश होकर छोटे-बड़े वर्तुल खड़ा करता है जिसके कारण उसका धर्म भी छोटा-बड़ा आकार गृहण करता है । सर्वप्रथम व्यक्ति होने के नाते उसका व्यक्तिधर्म रहता है । वहाँ से विकसित होकर वह एक परिवार बन जाता है और उसका एक परिवारधर्म या कुटुंबधर्म

रहता है, उसी प्रकार उनके चारों ओर जाति, ग्राम, प्रान्त, देश, राष्ट्र, विश्व आदि के वर्तुल विकसित होते हैं, फलस्वरूप वह इन भिन्न-भिन्न धर्मों से संलग्न हो जाता है । इनको निभाने के लिए व्यक्तिधर्म के अलावा जातिधर्म, ग्रामधर्म, देशधर्म, राष्ट्रधर्म, विश्वधर्म साथ ही साथ व्यापारधर्म, वकीलधर्म, वैद्यधर्म, अध्यापकधर्म इत्यादि रहते हैं । किसी भी स्तर का धर्म एक दूसरे से अलिप्त या भिन्न नहीं, क्योंकि सभी का लक्ष्य एक ही है-'धरति लोकान्' (सुव्यस्थित ढंग से संभालना) । किन्तु व्यावहारिक तौर पर कभी-कभी दो धर्मों के बीच संघर्ष होता दिखाई देता है और इन दोनों के बीच फंसा बिचारा मनुष्य बेचैन या किंकर्तव्यमूढ़ हो जाता है । इसे ही कहते हैं- धर्मसंकट ।

धर्मसंकट दुविधा से अलग है । दुविधा निर्णय लेने की असमर्थता है । सिनेमा जाना है कि नहीं, रात का भोजन करना है कि नहीं, शादी में जाने के लिए खादी का कुर्ता कि रेशमी कुर्ता पहने- यह दुविधा है । यहाँ संघर्ष की बात नहीं । मन की अनिश्चितता की बात है।

किन्तु धर्मसंकट वह है जब दोनों काम करणीय हैं । परन्तु यदि एक किया तो वह दूसरे के विरुद्ध हो जाता है । दोनों काम धर्म है, एक धर्म और दूसरा अधर्म नहीं । अर्थात् यहाँ द्वन्द्व धर्म-अधर्म का नहीं वरन् धर्म-धर्म का है । दोनों धर्म होने के कारण मनुष्य संकट में पड़ जाता है। इसी को धर्मसंकट कहते हैं । केवल मानव धर्मसंकट में पड़ जाता है, पशु नहीं । पशु के सामने कभी धर्मसंकट खड़ा नहीं होता ।

पुरानी एक कथा है । मातंग मुनि पेड़ के नीचे बैठकर तप कर रहे हैं । एक परेशान पथिक जिसके हाथ में धन का थैला था दौड़ता हुआ आया और बोला ''महाराज ! बचाइये, डाकू मेरा पीछा कर रहा है ।'' तुरन्त मातंग ने उसको पेड़ के खोखले के भीतर बैठने को कहा । थोड़े समय के बाद डाकू आया । उसने मुनि से पूछा - 'किसी को भागते हुए देखा क्या ?' अब तपस्वी मुनि धर्मसंकट में पड़ गये । उनका जीवनव्रत था अहिंसा और सत्य । अब क्या कहें ? दोनों धर्म । किन्तु सत्य बोल

दिया तो हिंसा होगी, मुनि भी उसके भागीदार होंगे अर्थात् पापकर्मी। यदि असत्य बोले तो वे स्वयं असत्य कथन के पापकर्मी होंगे। तुरन्त उन्होंने विवेचन किया और निष्कर्ष पर पहुँचे कि जीव की रक्षा उत्कृष्ट धर्म है और डाकू से असत्य बोल दिया। कथा बताती है मातंग मुनि को किसी भी पाप का लांछन नहीं लगा।

इसी प्रकार की एक कथा महाभारत के कर्णपर्व में है, किन्तु उसके कथानक में थोड़ा-सा अन्तर है। एक सत्यवचनी ब्राह्मण था, कौशिक। गाँव के पास संगम पर वह तपस्या कर रहा था। एक बार कुछ पथिक चोरों के आक्रमण के कारण उसके आश्रम में आ छिपे। थोड़े समय के बाद लुटेरे पूछने आये। तपस्वी कौशिक ने सच बात बता दी। फलस्वरूप सारे पथिक पकड़े गये और मारे गये। इस कारण वह ब्राह्मण सत्यवचन कहने के पश्चात् भी हिंसा के पाप का भागी बना और उसकी अधोगति हुई।

सुविदित कथा है भक्त प्रह्लाद की। उनके पिताजी हिरण्यकश्यप थे। पिताजी ने बेटे से पूछा "तेरे आचार्य ने तुझसे कहा न बाप का आदेश नहीं टालना ?"

प्रह्लाद ने कहा, 'हाँ'।

"तब क्यों मेरे आदेश के विरुद्ध नारायण के नाम का प्रचार करता है।

तब प्रह्लाद उत्तर देते हैं- "पिताश्री, कभी-कभी बड़ा धर्म और छोटा धर्म, इनके बीच द्वन्द्व होता है। तब छोटे धर्म को टालकर बड़े धर्म को संभालना चाहिए। यही करणीय है। अन्यथा संकट बढ़कर सर्वनाश करेगा।" सार्वजनिक जीवन में प्रह्लाद का कथन अनमोल है।

इसी तत्व को देवेन्द्र, श्वेनपक्षी के रूप में राजा शिवि से कहते हैं - "महाराज, महत्वपूर्ण क्या है, गौण क्या है, इसे देखकर धर्म-अधर्म का निर्णय करना पड़ेगा। जिसका जहाँ महत्व है उसे समझकर धर्म का निर्णय करें।"[१५]

इसी तत्व को मातंग मुनि ने भी अपनाया । प्राणिरक्षा और सत्यकथन, इन दो धर्मों के बीच जब संघर्ष हुआ, तब उन्होंने तुलना में बड़े धर्म के नाते प्राणिरक्षा को प्रधान मान कर उसे स्वीकारा तथा छोटे धर्म को छोड़ दिया । इसके विपरीत कौशिक ने छोटे को पकड़कर बड़े धर्म को छोड़ा और पाप का भागी बना । विशेषत: आज के लोकतान्त्रिक वातावरण में जब मानवाधिकार, वैचारिक स्वतन्त्रता, जातीय अधिकार, भाषायी स्वाभिमान, प्रान्तीयता, राष्ट्रीयता, विश्वमानवता आदि विषयों को लेकर कोलाहल मचता है तब धर्म सम्बन्धित यह विवेचन अत्यन्त लाभकारी होगा ।

धर्म सम्बन्धित रूपककथा

धर्म को पुष्ट बनाने वाले साधनों में सबसे अधिक पंथ-संप्रदाय है । उन पंथों के पुरस्कर्ता महात्माओं ने सरलतापूर्वक रूपक कथाओं एवं रोचक प्रसंगों द्वारा हमारे सामने धर्म का महत्व उजागर किया है । निराकार धर्म को साकार रूप देकर कथापात्र के नाते उन्होंने समाज के सामने प्रस्तुत किया है ।

जब कुलवधू द्रौपदी का चीरहरण हो रहा था उनकी हृदयद्रावक प्रार्थना सुनकर द्वारकाधीश कृष्ण 'धर्म' का अदृश्य रूप धारण कर उनकी लाज बचाते है ।[१६] अत्यन्त विकट परिस्थिति में, धर्म यक्ष का रूप धारण कर युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं कि धर्म के पास पहुँचने के द्वार कौन-से हैं ? ''अहिंसा, समता, शान्ति, दया एवं अमत्सर ।''- यह उत्तर मिलते ही वे अपना स्वरूप प्रकट कर वर देते हैं कि ''अज्ञातवास में तुम कौरवों से सुरक्षित रहोगे ।''[१७]

इसी प्रकार कठोर परीक्षक धर्म कुत्ते का रूप धारण कर धर्मराज युधिष्ठिर की अन्तिमपरीक्षा लेने हेतु उनके महाप्रस्थान की बेला में आते हैं और धर्मपुत्र की अव्यभिचारी धर्मनिष्ठा से अतीव सन्तुष्ट होकर वे कहते हैं -

''हे भरतश्रेष्ठ ! आपने अत्युत्तम विभूतिमत्व प्राप्त किया है ।''[१८]

भागवत पुराण में धर्म सम्बन्धित जो रूपक कथा आती है वह अत्यन्त प्रबोधक है । कथा में पात्रों के जो नाम आते हैं वे स्वयं धर्म के महत्त्व के परिचायक हैं । वे सारी गुणद्योतक संज्ञायें हैं । कथा में जो प्रसंग दिये गये हैं वे भी प्रतीकात्मक हैं । थोड़ा सोचने पर उसका भी अन्तरार्थ या तात्पर्य आसानी से अवगत हो जाता है ।

धर्म है सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी के पुत्र । उनका जन्म हुआ प्राणदाता के दाहिने स्तन से । प्रजापति ने कन्यादान के रूप में अपनी तेरह पुत्रियां धर्म को दे दीं । वे सब धर्म की सहधर्मचारिणियाँ बन गयीं । उनके नाम थे - श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ही और मूर्ति । अन्तिम कन्या मूर्ति की दो संतान थी । शेष सबको एक-एक । इस प्रकार कुल में चौदह संतानें थीं । धर्म-श्रद्धा युति से शुभ, धर्म-मैत्री युति से प्रसाद, धर्म-दया युति से अभय, धर्म-शान्ति युति से सुख, धर्म-तुष्टि युति से मुद (अर्थ-हर्ष), धर्म-पुष्टि युति से स्मय (अभिमान), धर्म-क्रिया युति से योग, धर्म-उन्नति युति से दर्प, धर्म-बुद्धि युति से अर्थ, धर्म-मेधा युति से स्मृति, धर्म-तितिक्षा युति से क्षेम, धर्म-ही (लज्जा) युति से प्रश्रय (विनय-सृजनता) इन सबका आविर्भाव हुआ । अन्तिम धर्म-मूर्ति युगल से नर-नारायणों का उदय हुआ ।

वास्तव में यह कथा इस निबंध के प्रारंभ में उद्धृत बृहदारण्यकोपनिषद् के वाक्य का कथारूपी आविष्कार है । कथा में आदिशक्ति सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी का रूप लेती है और उसके द्वारा सृष्ट धर्म ब्रह्मा का पुत्र बन जाता है । आगे का कथानक स्वयं स्पष्ट है ।

ऐसी ही अधर्म सम्बन्धित रूपक कथा भी है । उसको भी समझना लाभकारी होगा । इससे हमारी धर्मविषयक धारणा अधिक स्पष्ट होगी । भागवत, पद्मपुराण आदि के अनुसार अधर्म ब्रह्माजी के पृष्ठभाग से उत्पन्न धर्मविरोधी पुरुष है । अर्थात् जब धर्म ब्रह्माजी के दाहिने स्तन से उत्पन्न हुआ यह अधर्म पृष्ठ से बाहर निकला । इसकी पत्नी मृषा जिसका अर्थ है असत्य । अधर्म और मृषा की संतान थी दंभ और माया । वे दोनों मिथुन बन गये और उनसे लोभ और विकृति

(कपटता) जनमे । आगे चलकर उस कुल में क्रोध, हिंसा, भय, यातना आदि संतानों ने जन्म लिया ।''[१९]

इन दो रूपक कथाओं का संदेश क्या है ? धर्म एवं अधर्म, दोनों का जन्म एक शरीर से है, धर्म का जन्मकेन्द्र है जीवामृत पिलाने का स्तन, अधर्म का है मल निकलनेवाला पृष्ठ ! धर्म से विवाहित गुण मानव समूह के लिए कल्याणकारी है, जो मानव को प्रकृति से संस्कृति की दिशा में उन्नयन करने वाले हैं । जबकि अधर्म और मृषा के संयोग से निकलने वाला परिणाम- दंभ, लोभ, क्रोध जैसे गुण- मानव समूह के लिए अहितकारक है और उसे प्रकृति से विकृति की ओर अपनयन करने वाले हैं । अर्थात् धर्म उन्मार्गी है जबकि अधर्म कुमार्गी है ।

धर्म शाश्वत है किन्तु कर्कश नहीं

धर्म शाश्वत है और अपरिवर्तनीय है क्योंकि उसको संपूर्ण चराचर को सुदृढ़ सुव्यवस्थित रखना है । किन्तु देश-काल भेद के कारण धर्म को प्रायोगिक जीवन में युगानुकूल एवं स्थानानुकूल मार्गदर्शन भी देना होता है । अतः धर्म तात्विक दृष्टि से स्थिर है और व्यावहारिक दृष्टि से गतिमान है । इसे ही सनातन कहते हैं । जैसे आज समझा जाता है - वैसे सनातन का अर्थ रूढ़िवादी, कर्कश, दकियानूसी आदि नहीं है । सन और तन दो शब्दों का जोड़ है सनातन । सन का अर्थ है पुराना, तन का अर्थ है अद्यतन और सनातन का अर्थ है यद्यपि पुराना-नवीन । विज्ञ लोग सूर्योदय का उदाहरण देते हैं । सूर्योदय सबसे पुराना है, सबसे नया भी, अतः वह सनातन है ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्री शक्ति सनातनी की व्याख्या की है । उन संस्कृत शब्दों का तत्सम हिन्दीकरण किया तो ''सर्वकाल में जो है उसे 'सना' कहा जाता है, विद्यमान जो है उसे 'तनी' कहा जाता है, सर्वत्र सर्वकाल जो विद्यमान है वह है- सनातनी ।''[२०] इससे सनातन शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है । धर्म निस्सन्देह सनातन है । पुरातन तथैव अद्यतन, स्थिर तथैव गतिमान, अमर तथैव चिरंजीव ।

उपसंहार

सारांश है : धर्म समस्त सृष्टि का अधिष्ठान है । नाना रूपी नानाभावी नर-नारियों से बना मानव समाज भी उसी अधिष्ठान पर टिक सकता है । धर्म व्यक्तिपरक नहीं, पारस्परिक है । वह व्यतिरेकी नहीं वरन् समावेशक है, संग्राहक है । छोटी-बड़ी इकाईयों के अनुरूप धर्म का वर्तुल भी छोटा-बड़ा हो सकता है, उसी समय वह हमेशा बड़े की ओर बढ़ने का प्रयास करता है । धर्म स्वयं प्रेरित है और संस्कृति की ओर ले जाता है । वह कर्कश नहीं सनातन है । धर्म संपूर्ण विश्व को भारत की दी हुई अद्वितीय एवं अमूल्य देन है ।

ऋषितुल्य भारतरत्न डॉ. भगवन दास के कथन के अनुसार ''धर्म वह है जो किसी वस्तु को धारण करता है, उसके स्वत्व को बनाये रखता है, उसके स्वाभाविक गुणों और चेष्टाओं को शिथिल होने से रोकता है और प्रधानतः उस वस्तु के अस्तित्व को स्थिर रखता है । धर्म जगत के अनेक अंशों को कार्य-कारण भाव से बांधने वाला जगत्-संचालक निसर्ग-नियम है अथवा जगत् व्यवस्था है । धर्म मनुष्य के भाव-भावनाओं के पार्थक्य के परिणाम स्वरूप प्रादुर्भूत विविध कृति-कृत्यों तथा अधिकार-कर्तव्यों को पारस्परिकता से गूँथकर समाज को संभालने वाला विधि-विधान है । धर्म मानव समूह को वेदों के अधिष्ठान पर अभ्युदय एवं निश्रेयस की ओर ले जानेवाला जीवन-विधान है । संक्षेप में विज्ञान की दृष्टि से धर्म वस्तु का निसर्गजन्य गुण है, नैतिक वैधानिक दृष्टि से कर्तव्य है, आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पंथ-संप्रदाय है, सामान्यतः सदाचार और नियम है, सर्वोपरि महात्तम कर्तव्य है ।''[२१]

इससे सिद्ध होता है कि धर्म जितना ऊँचा है उतना गहरा है, जितना व्यष्टिकेन्द्रित है उतना समष्टिव्यापक है, जितना पुराना है उतना नया है, जितना चिरन्तन है उतना गतिमान है, जितना बहुआयामी है उतना एकाग्र है । वह सर्वभूतहित का अमृतकलश है, जगन्मंगल का कल्पवृक्ष है ।

अतएव शरशैया पर लेटे धर्मवेत्ता भीष्म पितामह अपना अमोल और अमोघ धर्मोपदेश प्रारंभ करते हैं इसी मंगलाचरण से- ''नमो धर्माय महते, नमः कृष्णाय वेधसे ।''- महान धर्म का नमस्कार... विधाता कृष्ण का नमस्कार । [२२] धर्म के महत्व को उद्‌घोषित करने वाला कितना अर्थगंभीर मंगलाचरण !

***

सन्दर्भ टिप्पणियाँ :-

१. कर्ण अपने स्वप्न का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण से कहते हैं:-
यतो धर्मस्ततो जयः

- द्रोणाचार्य का उपदेश दुर्योधन को :-

क्षपयिष्यसि नः सर्वान् स सुव्यक्तं महारणे ।
विदितं में हृषीकेश यतो धर्मस्ततो जयः
(उद्योगपर्व-१४३-३६)

- व्यास महर्षि धृतराष्ट्र से कहते हैं :-

अश्वत्थामा यथा मह्यं तथा श्वेतहयो मम ।
बहुना किं प्रलापेन यतो धर्मस्ततो जयः
(उद्योगपर्व-१४८-१६)

अर्जुन युधिष्ठिर से, देवेन्द्र को ब्रह्माजी का उपदेश याद दिलाते हुए निवेदन करते हैं :-

- दिष्टमेतन्नरव्याघ्र नाभिशोचितुमर्हसि
न चैव शक्यं संयन्तुं यतो धर्मस्ततो जयः (भीष्मपर्व-२-१४)

- संजय धृतराष्ट्र से पाण्डवों की जय हेतु कहते हैं :-

त्यक्त्वा धर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिता:
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जय:
(भीष्मपर्व-२१-११)

- भीष्म दुर्योधन से पाण्डवों के विषय में बताते हैं :-

न ते युद्धान्निवर्तन्ते धर्मोपेता: महाबला:
श्रिया परमया युक्ता यतो धर्मस्ततो जय:
(भीष्मपर्व - ६५-१८)

- महर्षि व्यास युधिष्ठिर से, घटोत्कचवध का दु:ख निवारण:-

राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जित:
यत: कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जय:
(भीष्मपर्व-६६-३५)

- युधिष्ठिर सान्त्वना के लिए श्रीकृष्ण को धृतराष्ट्र- गान्धारी के पास भेजते हैं । धृतराष्ट्र उस समय श्रीकृष्ण के सान्निध्य में गान्धारी को याद दिलाते हैं कि उन्होंने दुर्योधन से क्या कहा था :-

आनृशंस्यं तपो दानं क्षमां सत्यं च पाण्डव
सेवेथा परमप्रीतो यतो धर्मस्ततो जय:
इत्युक्त्वा पाण्डवं व्यासस्तत्रैवान्तरधीयता ।
(द्रोणपर्व-११-१८३-६६,६७)

- व्यास का, पाण्डवों को शाप देने के लिए उद्युक्त गान्धारी से प्रबोधन :-

दुर्योधनस्त्वया चोक्तो जयार्थी पुरुषं वचः
श्रृणु मूढ़ वचो मह्यं यतो धर्मस्ततो जयः (शल्यपर्व-६३-६२)

- उक्तास्यष्टादशाहानि पुत्रेण जयमिच्छता
शिवमाशास्व में मातर्युध्यमानस्य शत्रुभिः ।। (स्त्रीपर्व-१४-८)

सा तथा याच्यमाना त्वं काले काले जयैषिणा
उक्तवत्यसि गान्धारि यतो धर्मस्ततो जयः ।। (स्त्रीपर्व-१४-९)

- दुयोधन तथा पुत्रवधू को देखते हुए श्रीकृष्ण के समक्ष गान्धारी का कथन :-

क्षमाशीला पुरा भूत्वा साद्य न क्षमसे कथम्
अधर्मं जहि धर्मज्ञे यतो धर्मस्ततो जयः ।। (स्त्रीपर्व-१४-१२)

- भीष्म श्रीकृष्ण से अपनी भूमिका के बारे में कहते हैं :-

मामयं प्राह वार्ष्णेय प्राञ्जलिर्नृपसत्तमः
अस्मिन् ज्ञातिसमुद्धर्षे जयमम्बा ब्रवीतु मे ।। (स्त्रीपर्व-१७-६)

इत्युक्ते जानति सर्वमहं स्वव्यसनागमम्
अब्रवं पुरुषव्याघ्र यतो धर्मस्ततो जयः ।। (स्त्रीपर्व-१७-७)

- रक्ष्याश्च ते पाण्डवेया भवान् येषां परायणम्
उक्तवानस्मि दुर्बुद्धिं मन्दं दुर्योधनं तदा ।।

'यतः कृष्णस्ततो धर्मो' यतो धर्मस्ततो जयः
वासुदेवेन तीर्थेन पुत्र संशाम्य पाण्डवैः ।।

संघातस्य परः कालस्तवेति च पुनः पुनः
न च मे तद्वचो मूढः कृतवान् स सुमन्दधीः

(अनुशासन-भीष्म स्वर्गारोहणपर्व-१६७-४०-४२)

२. **धर्मज्ञः... धर्मस्य परिरक्षिता ...**

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
(वाल्मीकी रामायण-बालकांड-१ सर्ग-१२-१३)

३. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्
... तदैक्षत बहुस्याम् प्रजायेयेति' (छान्दोग्योपनिषद् ६-२-१, ३)

४. तत् श्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं ...
तस्मात् धर्मात् परं नास्ति...
यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् (ब्रहदारण्यकोपनिषद् ३१-४-१४)

५. शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक
कुले तस्मिन् प्रजातोऽसि गजो यत्र न हन्यते ।

६. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा
धर्म सर्वं प्रतिष्ठितं
तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति ।।"(महाभारत-शान्तिपर्व-१०९-११)

७. विहितक्रियया साध्यो
धर्मः पुंसां गुणी मतः ।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः
स गुणोऽधर्मः उच्यते ।। (धर्मप्रदीपिका)

८. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानतां
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति
(ऋग्वेद-१०-१९१-२,३,४)

९. न वै राज्यं न राजासीत् न च दण्डो न दाण्डिकः
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ।
(शान्तिपर्व-५९-१४)

१०. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धी विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम् ।।
(मनुस्मृति-६-९२)

११. सर्वभूतानुकम्पी यः सर्वभूतार्जवव्रतः
सर्वभूतात्मभूतश्च स वै धर्मे युज्यते ।
(महाभारत-अनुशासनपर्व-१४२-२८)

१२. न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परां अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदुःखभाजां, अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।
(भागवत-९-२१-१२)

१३. यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।
(श्रीमद्भगवतद्गीता-७-२१)

१४. गुरुलाघवमादाय धर्मोऽधर्म विनिर्णये
यतो भूयांस्ततो राजन् कुरुष्व धर्मनिर्णयम् ।
(महाभारत-वनपर्व-१३१-१३)

१५. ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः (महाभारत-सभापर्व-६८-४६)

१६. यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम्
न वो विज्ञास्यते कश्चित् त्रिषु लोकेषु भारत ।
(महाभारत-वन पर्व-३१४-१७)

१७. प्राप्तोऽसि भरतश्रेष्ठ दिव्यां गतिमनुत्तमाम् ।
(महाभारत-महाप्रस्थानपर्व-३-२२)

१८. भागवत-स्कन्ध-४-अ.८-२,३,४.

१९. सर्वकाले सना प्रोक्ता विद्यमाने तनीति च
सर्वत्र सर्वकालेषु विद्यमाना सनातनी ।
(ब्रह्मवैवर्त पुराणं-प्रकृति खंड-अध्याय ५४)

२0. That which holds a thing together, makes it what it is prevents it from breaking up and changing into something else, its characteristic function, its peculiar property, its fundamental attribute, its essential nature, is its Dharma, the law of its being, primarily. That which makes the world process what it is and holds all its parts together as One Whole, in a beakless all-binding chain of causes and effects, is the Law (or totality of laws) of Nature of Nature's God Dharma in the largest sense, the world-order. That scheme or code of Laws which bind together human beings in the bonds of mutual rights and duties, of causes and consequences of actions, arising out of their temperamental characters in relation to each other, and thus maintains society, is human Law, Manava Dharma . Yet again the code of life based on Veda (all-science of the Laws of Nature in all her departments), the due observance of which leads to happiness here and hereafter, is Dharma. Briefly Dharma is characteristic property, scientifically; duty, morally, and legally; religion with all its proper implications, psycho-physically and spiritually; spiritually; and righteousness and law generally, but Duty above all. "(The Science of Social Organisation, II Edition. Vol. I . Page - 49 - 50)

२१. नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे
ब्रह्मणेभ्यो नमस्कृत्वा धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ।
(महाभारत-शांतिपर्व-५६-१0)

धर्म जितना ऊँचा है।, उतना गहरा है,
जितना व्यष्टि केन्द्रित है उतना समष्टि व्यापक है,
जितना पुराना है उतना नया है,
जितना चिरन्तन है उतना गतिमान है,
जितना बहुआयामी है उतना एकाग्र है।
वह सर्वभूतहित का अमृतकलश है,
जगन्मंगल कल्पवृक्ष है।

लेखक परिचय

रंगा हरि



जन्म -	५ दिसम्बर १९३०, एर्णाकुलम्, केरल
शिक्षा -	स्नातक (बी.ए.) एर्णाकुलम्,
१९४४ -	राष्ट्रीय स्वयंसवेक संघ, प्रवेश
१९४८ -	संघ प्रतिबन्ध विरोधी सत्याग्रही। ६ महिने का कारावास (कण्णूर जेल)
१९५१ -	संघ प्रचारक
१९८३ -	केरल प्रान्त प्रचारक
१९९० -	अखिल भारतीय सह बौद्धिक प्रमुख
१९९१ से २००५	अखिल भारतीय बौद्धिक प्रमुख

- संस्कृत, मलयालम्, तमिल, कोंकणी, मराठी, हिन्दी और अंग्रेजी भाषओं पर समान अधिकार
- श्री गुरुजी समग्र वाङ्मय साहित्य संकलन समिति के निदेशक रहे हैं।
- हिन्दू संगठन कार्यार्थ विशेष प्रवास : नेपाल, सिंगापुर, म्यांमार (ब्रम्हदेश), न्युजीलैण्ड, फिजी, इंग्लैण्ड, अमरिका, नीदरलैण्ड, लिथुआनिया, ओमान, संयुक्त अरब अमीरात, बहरीन आदि देशों में धर्म एवं संस्कृति पर वार्ताएँ एवम् भाषण।

प्रकाशित पुस्तकें

(१) मलयालम् में ८
(२) हिन्दी में २
(३) मराठी से मलयालम में अनुवादित ३
(४) अंग्रेजी से मलयालम में अनुवादित १
(५) आद्य शंकराचार्य रचित प्रश्नोत्तरी कविता का मलयालम के काव्यानुवाद
(६) पण्डित नारायण आचार्य की 'नृसिंग स्तुति' पर टीका
(७) गुरुजी गोलवलकर जीवन चरित्र
(८) गोवा में मतान्तरण - कथा और व्यथा

श्रीभारती प्रकाशन नागपुर

श्रीभारती प्रकाशन
डॉ. हेडगेवार भवन परिसर
महाल, नागपुर - ४४००३२

मूल्य ₹ ३०/-

ISBN No. : 978-93-92813-40-5